# व्यवस्था का संकल्प

## तीन शब्दों पर एक बात

*A Note on Three Words*

---

यह किताब चंद सादे शब्दों पर घूमती है, जो यहाँ एक ख़ास मायने में बरते गए हैं। जो पाठक इन्हें सुर्ख़ियों के बजाय एक परिभाषा की तरह पहली बार मिल रहा हो, उसके लिए इन पन्नों में इनका मतलब यह है।

**व्यवस्था।** रोज़मर्रा की ज़िंदगी की वह आम शांति — कि एक इंसान काम पर जा सके, बाज़ार जा सके, और बिना किसी के शिकार बने घर लौट सके। डर की ख़ामोशी नहीं, बल्कि वह सुरक्षा जिसमें बाक़ी सब कुछ — व्यापार और पढ़ाई से लेकर परिवार और असहमति तक — मुमकिन होता है।

**सहमति।** क़ानून और पुलिस के साथ जनता का अपनी मर्ज़ी से सहयोग: लोग अमन इसलिए बनाए रखें क्योंकि उन्हें यक़ीन है कि नियम न्यायसंगत हैं और सब पर बराबर लगते हैं — न कि सिर्फ़ इसलिए कि कोई देख रहा है। एक फ़ोर्स सहमति से तब पुलिसिंग करती है, जब नागरिक उसकी मदद बिना किसी दबाव के करता है।

**वैधता।** वह गुण, जो उस सहमति को कमाता है — जनता का यह यक़ीन कि पुलिस को काम करने का हक़ है, क्योंकि वह निष्पक्ष है, जवाबदेह है, और नागरिक के पाले में है। वैधता एक फ़ोर्स के लिए वही है जो एक कारोबार के लिए पूँजी: बनने में धीमी, ख़र्च होने में तेज़, और वह चीज़ जो बाक़ी सब कुछ झेलने लायक़ बना देती है।

**समझौता।** वह अनलिखा अहदनामा, जो इस पूरी किताब में बहता है, जिससे अजनबियों का एक समाज, रोज़-ब-रोज़, यह चुनता है कि वे एक-दूसरे का शिकार नहीं करेंगे। यही वह ख़ामोश सौदा है, जिसे बचाने के लिए पुलिस है — और जिसकी जगह वह कभी नहीं ले सकती।

# वह चिट्ठी — भारत, अपनी पुलिस के नाम

*The Letter · India to Its Police*

*76वें स्वतंत्रता दिवस पर, गणराज्य की आवाज़ में, एक अख़बार के लिए लिखी गई; जैसी छपी, वैसी ही यहाँ दी गई है।*

मेरी प्यारी भारतीय पुलिस,

दुनिया के मंच पर तनकर खड़ा, अपनी आज़ादी के छिहत्तर शानदार बरस गिनते हुए, मैं भावनाओं के एक बवंडर में घिरा पाता हूँ ख़ुद को। कृतज्ञता, गर्व, उम्मीद और महत्वाकांक्षा — सब मेरा दिल भर देते हैं, जब मैं उस सफ़र को सोचता हूँ जो मैंने तय किया और उस अनंत को जो आगे पड़ा है। मेरी बुनियाद की हर ईंट अपनी मज़बूती उन करोड़ों-करोड़ लोगों की क़र्ज़दार है, जिन्होंने ख़ुद को मेरी भलाई और देखभाल में झोंक दिया। और इन अनगिनत नायकों में, तुम — मेरी बहादुर पुलिस — उन प्रहरियों की तरह दमकते हो, जिन्होंने मेरा झंडा ऊँचा रखने को न जाने कितने तूफ़ान झेले। तुम्हारी क़ुर्बानी की इससे बड़ी गवाही और क्या होगी, उस दुखती सच्चाई से, कि मेरी आज़ादी के बाद से तुम्हारे पैंतीस हज़ार से ज़्यादा बहादुर भाई-बहनों ने, अमन और व्यवस्था के दुश्मनों से मेरी रक्षा करते हुए, अपनी जान दे दी!

हम सब जानते हैं कि बदलाव ही इकलौता स्थायी सच है। परंपरा और रूपांतरण के दोराहे पर खड़े हम पर यह ज़िम्मेदारी है कि हम एक ऐसा भविष्य गढ़ें जो अपने लोगों की आकांक्षाओं से मेल खाए। आज की आंतरिक सुरक्षा का नक़्शा उससे बिलकुल अलग है, जो एक दशक पहले भी था। चुनौतियों की फ़ितरत, भावनाओं की उथल-पुथल, और जानकारी के बहने की रफ़्तार — सब में भारी बदलाव आ चुका है। ऐसे वक़्त में, तुम्हें अपने ‘बल’ और ‘अधिकार’ को ‘रणनीति’ और ‘कौशल’ से तपाना होगा।

तुम्हारी बहादुरी पर कोई सवाल नहीं; पर अब मुझे ऐसी फ़ोर्स चाहिए जो भीतर की लहरें पढ़ सके, जो किसी हालात का मिज़ाज भाँप ले और समझ से क़दम उठाए। यह अधिकार की अहमियत घटाने के लिए नहीं, बल्कि यह रेखांकित करने के लिए है कि बल का इस्तेमाल सही

वक़्त पर, कम से कम, और सोच-समझकर हो। तनाव घटाने, मध्यस्थता और टकराव सुलझाने की बारीक ट्रेनिंग से लैस होकर, तुम महज़ क़ानून लागू करने वालों से बदलकर अमन के प्यारे, सक्रिय रखवाले बन सकते हो। याद रखो, हर हालात की पेचीदगी में एक मौक़ा छिपा है — अपनी समझ की गहराई और अपनी ट्रेनिंग की हद दिखाने का मौक़ा।

जैसे प्रयागराज में गंगा, यमुना और अदृश्य सरस्वती का संगम होता है, वैसे ही मेरी पुलिस में परंपरा और तकनीक को मिलना होगा। हम एक ऐसे दौर में जीते हैं जहाँ दुनिया बस एक क्लिक दूर है, जहाँ जानकारी सोच से भी तेज़ दौड़ती है। जैसे मैंने अंतरिक्ष, आईटी और डिजिटल नवाचार में लंबे क़दम बढ़ाए हैं, वैसी ही भविष्यदर्शी है तुम्हारे लिए मेरी नज़र। आधुनिक निगरानी-तंत्र, एआई से चलते जाँच के औज़ार, और चुस्त संचार-नेटवर्क — ये व्यवस्था बनाए रखने और अपराध पकड़ने की तुम्हारी क़ाबिलियत को कई गुना कर सकते हैं। शरीर पर लगे कैमरे एक निष्पक्ष गवाह की तरह काम आ सकते हैं, तुम्हारी हर मुलाक़ात में पारदर्शिता लाते। बढ़िया डेटाबेस तुम्हें बिंदुओं को तेज़ी से जोड़ने में मदद दे सकते हैं, ताकि इंसाफ़ जल्दी मिले। ये औज़ार तुम्हारे काम में क्रांति ला सकते हैं — उसे और तेज़, और पैना, और आज की चुनौतियों के अनुकूल बनाते।

पर बड़ी ताक़त के साथ बड़ी ज़िम्मेदारी आती है। तकनीक के नैतिक मायने गहरे हैं। यह ज़रूर सुनिश्चित करना कि तकनीक की ताक़त बरतते हुए तुम उन नागरिकों के हक़ों और निजता से नज़र न हटाओ, जिनकी सेवा की तुमने क़सम खाई है।

मेरी संस्कृति, मेरे मूल्यों और मेरी अस्मिता के केंद्र में इंसानियत पर एक अटूट ज़ोर है। जो वर्दी तुम पहनते हो, वह कर्तव्य का प्रतीक है — पर उसे संवेदना और समझ की एक मशाल भी होना होगा। हर मुलाक़ात, चाहे वह गुरुग्राम के चमचमाते मॉल में हो या मेघालय के शांत इलाक़ों में, आदर और करुणा पर टिकी होनी चाहिए। संवेदनशीलता की ट्रेनिंग, सांस्कृतिक समझ के कार्यक्रम, और नैतिक फ़ैसले के पाठ — तुम्हारे विकास की बुनियाद

हों। इन मूल्यों को गहराई से भीतर उतारकर, तुम महज़ ‘एक पुलिस’ से बदलकर ‘हमारी पुलिस’ बन सकते हो — एक ऐसी फ़ोर्स, जो उन लोगों की सचमुच परवाह करती है जिनकी वह सेवा करती है।

अपनी शताब्दी की ओर बढ़ते हुए, मेरा सपना सिर्फ़ आर्थिक समृद्धि या वैश्विक वाहवाही का नहीं है। मैं एक सद्भाव वाले घर का सपना देखता हूँ — एक ऐसी धरती, जहाँ हर नागरिक सुरक्षा के भरोसे के साथ सोए, और इंसाफ़ की गारंटी के साथ जागे। और इस सपने में, तुम — मेरी प्यारी भारतीय पुलिस — एक धुरी की भूमिका निभाते हो।

आने वाले वक़्त में मैं अपने लिए एक ऐसी फ़ोर्स की कल्पना करता हूँ, जिसे उसकी ताक़त ही नहीं, उसकी सूझ के लिए भी पूजा जाए; उसके अधिकार ही नहीं, उसकी संवेदना के लिए भी; उसकी विरासत ही नहीं, उसके ढलने के हुनर के लिए भी। आओ, अतीत की समझ को वर्तमान के ज्ञान से मिलाकर भविष्य का वादा पूरा करें। आओ, एक ऐसी राह पर चलें, जहाँ तुम्हारा हर काम रणनीति से सधा हो, तुम्हारा हर ऑपरेशन तकनीक से, और तुम्हारा दिल करुणा से।

*अनंत कृतज्ञता और असीम आशा के साथ,*<br>*भारत*

# प्रस्तावना — वह जवाब

*Prologue · The Answer*

जो चिट्ठी तुमने अभी पढ़ी, वह एक अख़बार के लिए, आज़ादी की छिहत्तरवीं सालगिरह पर लिखी गई थी। मैंने उसे ख़ुद लिखा — उसी अकेली आवाज़ में, जो उस मौक़े के क़ाबिल लगी: ख़ुद गणराज्य की आवाज़। ढाँचा उधार का था; पर माँग सच्ची थी। भारत अपनी पुलिस से कह रहा था: रणनीति वाले बनो, तकनीक-समझदार बनो, करुणामय बनो; बल को समझ से तपाओ; नए औज़ार साधो, पर अपनी क़सम न खोओ; महज़ ‘एक पुलिस’ नहीं, ‘हमारी पुलिस’ बनो। ऐसी चिट्ठी जवाब में एक सलामी से ज़्यादा की हक़दार है। वह एक ईमानदार जवाब की हक़दार है।

यह किताब वही जवाब है — वर्दी के भीतर से लिखा गया। इसकी शुरुआत सच के उस हिस्से से होती है जिसे कोई न्यूज़ चक्र तुम्हें नहीं बेचेगा: कि हम उससे कहीं ज़्यादा महफ़ूज़ हैं जितना सुर्ख़ियाँ बताती हैं। आम भारतीय का एक आम दिन — दस लाख अजनबी आपस में लेन-देन करते, धक्के खाते, और बिना किसी चोट के बिखर जाते — एक ऐसी दर से सफल होता है जिसकी कोई बुलेटिन ख़बर नहीं देती, और आगे के अध्याय उस पर आँकड़े रखेंगे। पर अकेला तसल्ली देना एक बेईमान जवाब होगा। दुनिया की व्यवस्था ख़ुद को नए सिरे से जमा रही है; तकनीक नागरिक और अपराधी, दोनों को ऐसी ताक़तें थमा रही है जो एक दशक पहले थीं ही नहीं; और जनसांख्यिकी इतिहास की सबसे बड़ी जवान पीढ़ी को उसके बेचैन यौवन तक ला रही है। बिना तत्परता के नज़र — आत्मसंतोष है; बिना नज़र के तत्परता — घबराहट। भारत को जो चाहिए, और ये पन्ने जिसकी कोशिश करते हैं, वह दोनों एक साथ हैं — एक ऐसे अमलदार की ओर से, जिसने ग़लत करने के नतीजे अपने कंधों पर ढोए हैं।

मैं उस वर्दी तक बहुत दूर से आया — एक ऐसे परिवार और एक ऐसी जगह से, जिसने मुझे बहुत कम दिया, सिवाय उस यक़ीन के, जो मेरी माँ ने मुझ पर दबाकर बिठाया: कि जो

इंसान ख़ुद पर भरोसा करता है और माँगे से ज़्यादा मेहनत करता है, वह अपनी राह ख़ुद बना सकता है। सेवा ने इसे सच भी साबित किया और उलझा भी दिया। उसने मुझे राज्य का सबसे अच्छा और सबसे बुरा रूप दिखाया — अक्सर एक ही हफ़्ते में। उसने मुझे सिखाया कि व्यवस्था और अव्यवस्था के बीच का फ़ासला अक्सर एक इंसान के एक फ़ैसले को सही ढंग से ले लेने भर का होता है। और वह फ़ैसला शायद ही कभी वह नाटकीय वाला होता है, जिसका वादा फ़िल्में करती हैं।

तैंतीस साल में मैंने जो सीखा, वही इस किताब का सार है। मैंने दो ऐसे पाठकों से एक साथ निभाने की कोशिश की है, जो शायद ही कभी एक ही पन्ने पढ़ते हों: वह साथी, जो इन कमरों को पहचान लेगा, और वह नागरिक, जिसने इन्हें हमेशा मेज़ के दूसरी ओर से ही देखा है। दोनों से मैं एक ही शुरुआती दावा करता हूँ: कि जिस व्यवस्था को वे मामूली मान बैठते हैं, वही उनके समाज का सबसे दुस्साहसी काम है। यह किताब इसी की कहानी है — कि यह कैसे थामी जाती है, और एक बदलते भारत में, अब इसे कैसे अलग ढंग से थामना होगा।

# भूमिका — दलील

*Introduction · The Argument*

यह व्यवस्था के बारे में एक किताब है — वह सबसे बेरौनक़ और सबसे ज़रूरी चीज़, जो एक राज्य दे सकता है। हम उसे तभी नोटिस करते हैं जब वह नाकाम होती है। सो हमने एक राजनीति, एक मीडिया और एक लोककथा उसकी नाकामियों के इर्द-गिर्द गढ़ ली है, और उसकी कामयाबी के विशाल, रोज़ाना सच के इर्द-गिर्द क़रीब कुछ नहीं। इन पन्नों की दलील यही है कि यह एक ऐसी ग़लती है, जिसे हम अब और नहीं झेल सकते।

थीसिस कहने में सरल है, और जीने में कठिन। व्यवस्था एक राष्ट्र का पहला सार्वजनिक हित है — वह ज़मीन, जिस पर बाक़ी हर हित बनता है। एक जवान, जुड़े हुए, आकांक्षी भारत में इसे पुराने तरीक़े से — बल और ख़ानों से — महफ़ूज़ नहीं किया जा सकता। इसे सिर्फ़ सहमति और एकीकरण से महफ़ूज़ किया जा सकता है: एक ऐसे राज्य से, जो अपनी वैधता कमाए, अपनी ख़ुफ़िया जानकारी का संगम करे, अपने लोगों को गढ़े, अपने औज़ार नैतिक हदों के भीतर अपनाए, और कहानी की जंग जीतना सीखे। मैंने इसे 'व्यवस्था का संकल्प' कहा है, क्योंकि इसे बनाना एक ऐसी दुनिया के ख़िलाफ़ ताल ठोकना है, जिसने इसका वादा कभी नहीं किया था।

अभी क्यों? क्योंकि चार चीज़ें एक साथ हो रही हैं। भारत धरती का सबसे जवान बड़ा समाज बन रहा है, जहाँ महत्वाकांक्षी और बेचैन लोगों की एक विशाल पीढ़ी एक साथ जवान हो रही है। तकनीक नागरिक और अपराधी, दोनों को ऐसी ताक़तें थमा रही है जो एक दशक पहले थीं ही नहीं। अपराध अपनी सरहदें फिसल चुका है — जुड़ा हुआ, वित्तीय और फ़ौरी बन चुका है। और जिस संस्था पर लकीर थामने का ज़िम्मा है, उस पर भरोसा उतना नहीं जितना यह काम माँगता है। इनमें से हरेक भाग एक का एक अध्याय है; और मिलकर ये अगले तीस बरस का सुरक्षा-मौसम हैं।

उस पड़ताल से एक सिद्धांत निकलता है, पाँच खंभों में, जो भाग दो है: व्यवस्था पहला सार्वजनिक हित; वैधता एक ताक़त-गुणक; ख़ानों पर एकीकरण; इंसान और मशीन एक साथ गढ़े गए; और कहानी सुरक्षा का एक क्षेत्र। भाग तीन इसे बनाने के बारे में है — किन लोगों को भर्ती और प्रशिक्षित करना है, कौन-सी तकनीक अपनानी और नियंत्रित करनी है, किन एजेंसियों को जोड़ना है, कौन-से मोर्चे थामने हैं, और नागरिक की सेवा कैसे करनी है। भाग चार पूछता है कि अगर हम ये कर लें तो किस भारत को महफ़ूज़ कर सकते हैं — और पाठक के हाथ में एक सवाल थमा देता है।

हैसियत पर एक बात। मैंने तैंतीस साल इस मशीन के भीतर बिताए हैं: ज़िलों और कमिश्नरियों में, वित्तीय जाँच और एक संयुक्त राष्ट्र मिशन में, और आख़िर में एक राज्य के सबसे ऊँचे पुलिस दफ़्तर में। आगे जो है, वह किसी सेमिनार की नज़र नहीं है। यह वही है जो काम ने मुझे सिखाया, उतनी ईमानदारी के साथ दर्ज जितनी मुझसे बन पड़ी — उन मौक़ों के बारे में भी, जब मैंने ग़लत किया, और जब संस्था ने किया। यह किताब एक साथ तीन पाठकों के लिए लिखी गई है: वह अफ़सर, जो कुछ काम की चीज़ चाहता है; वह सरकार, जिसे फ़ैसला करना है; और वह नागरिक, जो उस फ़ोर्स को समझने का हक़दार है जो उसके नाम पर सेवा करती है। अगर यह अपना काम कर गई, तो तीनों इसे पढ़कर व्यवस्था को — उस ख़ामोश, दुस्साहसी उपलब्धि को — ज़रा साफ़ देखेंगे।

आगे जो है, उसे पढ़ने का एक तरीक़ा। वक़्त से तंग अफ़सर सीधे भाग दो पर जाए, और अध्याय-अंत के ‘संक्षेप में’ बक्सों को एक मैदानी सार की तरह ले; नीति बनाने वाले को फ़ैसले भाग दो और भाग चार में मिलेंगे; और नागरिक बस क्रम से पढ़ता चले, क्योंकि यह किताब शुरू से अंत तक टहलाने के लिए लिखी गई है। तुम जिस भी दरवाज़े से दाख़िल हो, मंज़िल एक ही है: व्यवस्था — इतनी साफ़ देखी गई कि उसे थामा जा सके।

---

*चित्र 1 · ज़मीन सरक चुकी है — वे चार मान्यताएँ, जिन पर पुरानी मशीन बनी थी (बसा, धीमा, स्थानीय, आज्ञाकारी), और वह शहरी, फ़ौरी, जुड़ा हुआ, हक़-सजग भारत, जिसने उनकी जगह ले ली।*

*चित्र 2 · ख़ामोश समझौता — राष्ट्र की रोज़ाना इंसानी मुलाक़ातें, व्यक्ति और संपत्ति के विरुद्ध दर्ज अपराधों के सामने (एनसीआरबी, क्राइम इन इंडिया 2022) — व्यवस्था, एक भारी, अनगिनी सामान्य सच्चाई के रूप में।*

भाग एक

# नई अव्यवस्था

*पड़ताल — एक-एक करके वह ज़मीन, जो हमारे पैरों तले सरक रही है।*

अध्याय एक

# ख़ामोश समझौता

*The Quiet Compact*

किसी भी भारतीय शहर की एक आम मंगलवार की सुबह को ज़रा ठहरकर देखिए। एक करिश्मा रोज़ होता है, और किसी की उस पर नज़र तक नहीं पड़ती। लाखों लोग एक साथ घरों से निकलते हैं — ठसाठस भरी ट्रेनें, बेतरतीब सड़कें, बाज़ार, दफ़्तर, लंबी क़तारें। धक्के लगते हैं, बहसें होती हैं, हॉर्न बजते हैं। और शाम ढले लगभग हर कोई सही-सलामत घर लौट आता है — अपने छोटे-छोटे काम निपटाकर। यह सब किसने तय किया? किसी ने नहीं। कोई कर भी नहीं सकता। यही वह ख़ामोश समझौता है: करोड़ों अजनबियों के बीच एक अनकहा वादा — कि आज हम एक-दूसरे को नहीं नोचेंगे। और इस वादे के पीछे खड़ा है वह राज्य, जिसे इनमें से ज़्यादातर ने न कभी देखा है, न कभी उसके बारे में सोचा।

किसी छोटे क़स्बे का रेलवे फाटक देखिए, ठीक उस पल जब वह उठता है। एक तंग-सी जगह से सैकड़ों इरादे एक साथ निकलना चाहते हैं — स्कूटर, स्कूल वैन, ट्रेन के लिए भागता आदमी, और एक ठेला जिसे वहाँ होना ही नहीं चाहिए था। और निकल भी जाते हैं — लगभग हमेशा, बिना किसी मार-पीट के। किसी क़ायदे की किताब में यह नहीं लिखा कि कौन पहले जाए; बस लाखों छोटी-छोटी रियायतें, 'पहले आप' की हज़ार ख़ामोश अदाएँ, और काम हो जाता है। इस पूरे दृश्य में राज्य कहीं दिखता तक नहीं — और फिर भी यही दृश्य राज्य की सबसे बड़ी कामयाबी है। समझ लीजिए: व्यवस्था का मतलब फाटक पर खड़ा सिपाही नहीं है। व्यवस्था का मतलब है वे हज़ार लोग, जो सिपाही के न रहने पर भी लगभग वैसा ही करते — क्योंकि उन्होंने कहीं भीतर उस समझौते को मान रखा है।

और अगर किस्से पर यक़ीन न हो, तो आँकड़ा सुन लीजिए। भारत दुनिया के सबसे कम पुलिस वाले बड़े देशों में है। हर एक लाख की आबादी पर मुश्किल से डेढ़ सौ पुलिसकर्मी मंज़ूर — और उनमें भी हर पाँचवाँ पद ख़ाली, और जो बचे उनका बड़ा हिस्सा वीआईपी और इमारतों

की पहरेदारी में। (कमेटियों की रिपोर्टें ‘संयुक्त राष्ट्र का मानक — हर लाख पर 222 पुलिस’ दोहराती रहती हैं; ऐसा कोई मानक किसी यूएन काग़ज़ में है ही नहीं, सो हम उसका सहारा नहीं लेंगे। हमारे अपने आँकड़े ही काफ़ी हैं।) मतलब साफ़ है: किसी भी सड़क पर, किसी भी पल, पुलिस जनता के सामने मुट्ठी भर है। फिर लोग क़ायदे में रहते क्यों हैं? पुलिस के डर से नहीं — यह मुमकिन ही नहीं। सच यह है कि जिस व्यवस्था को हम मामूली मान बैठते हैं, उसे लोग ख़ुद थामे रहते हैं; सिपाही उसका आख़िरी सहारा है, पहला कारण नहीं। यही हमारी व्यवस्था का सबसे ज़रूरी और सबसे कम समझा गया सच है।

तो आख़िर इसे थामे रखता क्या है? एक किसान को सोचिए, जिसके पड़ोसी के हल ने उसकी डेढ़ फुट ज़मीन दबा ली — गाँव के झगड़ों की सबसे आम चिंगारी। उसका हाथ किसने रोका? तीन चीज़ों ने, और इनमें से एक भी वह सिपाही नहीं जो वहाँ है ही नहीं। पहली — संस्कार: बचपन से उसके मन में बैठा है कि ज़मीन के टुकड़े पर पड़ोसी का ख़ून नहीं किया जाता, और यह बात इसलिए टिकी है कि उसके बाप-दादा ने इसे निभाया। दूसरी — हिसाब: एक वार माने मुक़दमा, वकील की फ़ीस, थाने में नाम, और बेकार पड़ी फ़सल; यह क़ीमत उन डेढ़ फुट से कहीं भारी है। और तीसरी — रास्ता: एक पटवारी जिससे फ़रियाद हो, एक पंचायत जो बैठे, एक शिकायत जो दर्ज हो — भले धीमे और अधूरे, पर सच्चे, ताकि वह हिंसा और हार के बीच फँसा न रहे। संस्कार, हिसाब और रास्ता — यही तीन खंभे रोज़ के लाखों शांत लेन-देन के नीचे चुपचाप खड़े हैं। राज्य का असली काम इन्हें बदलना नहीं, इन तीनों को सीधा खड़ा रखना है: संस्कार को मज़बूत रखना, हिसाब को भरोसेमंद रखना, और सबसे बढ़कर — उस दिन सचमुच काम आना, जब नागरिक सब कुछ सही करके आख़िरकार थाने की खिड़की पर आ खड़ा होता है।

यही समझौता इस किताब का असली नायक है। और इसके बारे में पहली बात यही कि यह हैरान कर देने वाली मज़बूती से, लंबे समय से, टिका रहा है। शोर-शिकायत जितनी भी हो,

भारतीय जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा व्यवस्थित है — और गणराज्य के इन दशकों में, ज़्यादातर पैमानों पर, और भी व्यवस्थित हुआ है। पर यह कुछ ख़ास बुनियादों पर खड़ा था — और अब वे चारों बुनियादें एक साथ हिल रही हैं।

गणराज्य के ज़्यादातर सालों में यह समझौता एक ऐसे समाज पर टिका था जो गाँव का था, धीमा था, अपने इलाक़े तक सिमटा था, और सत्ता के आगे झुकना जानता था। मुसीबत आदमी की रफ़्तार से चलती थी — एक अफ़वाह को ज़िला पार करने में पूरा दिन लगता, और तब तक अफ़सर उसे सुन चुका होता। सिपाही जिन्हें सँभालता था, उन्हें जानता था, और वे उसे; उनके बड़े-बुज़ुर्गों को वह बुला सकता था। अपराधी और उसका अपराध — दोनों उन्हीं चंद वर्ग मील में सिमटे रहते। और नागरिक? वह काफ़ी हद तक वर्दी की बात मान लेता था — उस 'माई-बाप' वाली आदत से, जो एक मातहत जनता को विरासत में मिली थी। इन्हीं चार मान्यताओं पर — बसा, धीमा, स्थानीय, आज्ञाकारी — पुलिस की वह पुरानी मशीन, जो असल में किसी और ही मक़सद के लिए बनी थी, जैसे-तैसे काम चला ले जाती थी।

मैं इस पुलिस में 1990 के दशक के शुरू में आया और तीन दशक से ज़्यादा बाद विदा हुआ — और इन बरसों में मैंने चारों बुनियादें ढहते देखीं। शुरुआत में थाना अपने इलाक़े का दिल था; वर्दी की उम्मीद थी और बात मानी जाती थी; थानेदार अपने इलाक़े का क़ानून था, लगभग पूरी पकड़ के साथ। आख़िर तक आते-आते मैं एक ऐसी फ़ोर्स चला रहा था जो एक ही ज़िले में, एक साथ, एक बसा हुआ गाँव भी सँभाल रही थी, एक बेपरवाह शहर भी, और इन दोनों के बीच का वह बेचैन इलाक़ा भी जो न इधर का है न उधर का। थाने ख़ास इकाइयों में बँट गए, और वह पुराना सब कुछ जानने वाला थानेदार अब कई कड़ियों में से एक भर रह गया — नज़र में दिखता इकलौता क़ानून नहीं।

पहले अफ़वाह साइकिल की रफ़्तार से चलती थी, और अफ़सर अक्सर उसे भीड़ से पहले सुन लेता था; लैंडलाइन और वायरलेस का ज़माना था, और तमाम झल्लाहट के बावजूद वक़्त

अमन रखने वाले के साथ खड़ा रहता था। अब? एक फ़ॉरवर्ड, और पूरा ज़िला एक ही पल में देख चुका होता है — वही रील, वही मैसेज — और ट्रेंडिंग हैशटैग के इस दौर में हर तमाशबीन ख़ुद एक चैनल है। पुलिसिंग, ज़िंदगी में पहली बार, ढाँचे से ही पिछलग्गू हो गई: हमेशा एक ऐसी कहानी का जवाब देती हुई जो पहले ही फैल चुकी। अपराध ने भी यही नई दूरियाँ सीख लीं। पहले मुजरिम और जुर्म चंद वर्ग मील में बैठते थे; अब नशा, ठगी और तस्करी का शिकार — सब राज्यों और सरहदों के पार दौड़ते हैं, और एक मोबाइल और बैंक खाते वाला नागरिक, घर बैठे-बैठे, एक ऐसे शिकारी का आसान निशाना बन जाता है जिसकी शक्ल वह कभी नहीं देखेगा।

पर सबसे ज़्यादा बदला तो ख़ुद नागरिक। जिस वर्दी की बात कभी चुपचाप मान ली जाती थी, उसके सामने अब वह नौजवान है जो अपने हक़ जानता है — और उन हक़ों के इस्तेमाल को रिकॉर्ड करने के लिए फ़ोन तान लेता है। झुकना पूरी तरह ख़त्म नहीं हुआ; पुरानी ऊँच-नीच आज भी है, और छोटा-सा नेता तक चाहता है कि उसके इलाक़े में क़ानून कैसे चले, इसमें — क़ानून से ऊपर — उसकी भी चले। पर नीचे कुछ और बारीक खिसक गया है। आज कोई अफ़सर गिरे, तो उसका गिरना किसी अच्छे नियम का अपवाद नहीं माना जाता; वह फ़ौरन, सरेआम, एक और सबूत बन जाता है कि 'संस्था सड़ रही है।' वर्दी को कभी जो 'शक का फ़ायदा' मिलता था, वह अब ख़र्च हो चुका है। समझौता टूटा नहीं है — पर उसके नीचे की ज़मीन सरक रही है। और जो संस्था इस ज़मीन के साथ नहीं बदलेगी, वह जल्द ख़ुद को एक ऐसी बस्ती की पहरेदारी करते पाएगी जो अब बची ही नहीं।

इसमें कुछ भी सिर्फ़ भारत के साथ नहीं हुआ। जिस भी समाज ने शहर बसाए, उसे अमन रखने का तरीक़ा नए सिरे से गढ़ना पड़ा — अक्सर देर से, और हड़बड़ी में। लंदन ने दुनिया की पहली आधुनिक पुलिस 1829 में इसीलिए खड़ी की, क्योंकि एक फूलते अजनबी औद्योगिक शहर के आगे मोहल्ले का चौकीदार बौना पड़ गया था। रॉबर्ट पील की सूझ यही थी

कि एक भीड़ भरे, चलते-फिरते समाज की पुलिसिंग सिर्फ़ उसकी अपनी रज़ामंदी से हो सकती है — एक ऐसी फ़ोर्स से, जिसमें जनता को अपना अक्स दिखे। भारत आज उसी पड़ाव से गुज़र रहा है, पर ऐसी रफ़्तार और पैमाने पर, जो उन्नीसवीं सदी के किसी शहर ने सपने में नहीं देखा था: एक ही पीढ़ी में करोड़ों लोग शहरों की ओर — वह भी लोकतंत्र के भीतर, और हर हाथ में टँगे फ़ोन की निगाह में। काम वही पुराना है, बस कई गुना बड़ा और इतना तेज़ कि सँभाले न सँभले।

और ग़लती की क़ीमत भी अब मोहल्ले तक सीमित नहीं रही। आज समझौता दरकता है तो चुपचाप नहीं दरकता। एक अफ़वाह घंटे भर में भीड़ बन जाती है; ड्यूटी अफ़सर की मेज़ पर हुई एक ज़्यादती रात तक राष्ट्रीय बहस बन जाती है; एक स्थानीय शिकायत, ज़रा हवा पाकर, अफ़सर की पहली रिपोर्ट लिखने से पहले ही आंदोलन बन जाती है। जिस जुड़ाव ने नागरिक को ताक़तवर बनाया, उसी ने अव्यवस्था को रफ़्तार दे दी — और एक धीमी दुनिया के लिए बनी संस्था हमेशा उस घटना के बाद पहुँचती है जिसे रोकना उसका काम था।

यह कोई किताबी डर नहीं है। कुछ बरस पहले के एक मनहूस मौसम ने इसे खोलकर रख दिया था। बच्चा-चोरों की एक अफ़वाह — महज़ फ़ॉरवर्डों से फैली, किसी सच्ची घटना पर टिकी ही नहीं — किसी भी प्रशासन के पीछा करने से तेज़ दौड़ी; और कई राज्यों के क़स्बे-दर-क़स्बे, घंटे भर पहले तक आम नागरिक रहे पड़ोसियों ने मिलकर एक अजनबी को — कोई भिखारी, कोई मज़दूर, कोई बस रास्ता पूछता राहगीर — घेरकर पीट-पीटकर मार डाला। उन भीड़ों को किसी संगठन ने नहीं बुलाया था; एक मैसेज ने बुलाया था। और राज्य ख़ुद को ठीक वहीं खड़ा पाया जहाँ यह अध्याय उसे रखता है: धीमी दुनिया की एक मशीन, उस माध्यम में सफ़ाई देती हुई जो अपना काम कर चुका था, और इतनी देर से पहुँचती हुई कि बस लाशें गिन सके। अफ़वाह की यह भीड़-हत्या समझौते के टूटने का सबसे ख़ालिस रूप है — अजनबी,